

## बाल-दीक्षा

मैं बाल-दीक्षा विरोधके प्रश्नपर व्यापक दृष्टिसे सोचता हूँ। उसको केवल जैन-परम्परातक या किसी एक या दो जैन फिरकोंतक सीमित रखकर विचार नहीं करता क्योंकि बाल-दीक्षा या बाल-संन्यासकी वृत्ति एवं प्रवृत्ति करीब-करीब सभी त्याग-प्रधान परम्पराओंमें शुरूसे आजतक देखी जाती है, खासकर भारतीय संन्यास-प्रधान संस्थाओंमें तो इस प्रवृत्ति एवं वृत्तिकी जड़ बहुत पुरानी है और इसके बलाबल तथा औचित्यानीचित्यपर हजारों वर्षोंसे चर्चा-प्रतिचर्चा भी होती आई है। इससे संबन्ध रखनेवाला पुराना और नया वाङ्मय व साहित्य भी काफी है।

भारतकी त्यागभूमि तथा कर्मभूमि रूपसे चिरकालीन प्रसिद्धि है। खुद बापूजी इसे ऐसी भूमि मानकर ही अपनी साधना करते रहे। हम सभी लोग अपने देशको त्यागभूमि व कर्मभूमि कहनेमें एक प्रकारके गौरवका अनुभव करते हैं। साथ ही जब त्यागी संस्थाके पोषणका या पुराने ढंगसे उसे निवाहनेका प्रश्न आता है तब उसे टालते हैं और बहुधा सामना भी करते हैं। यह एक स्पष्ट विरोध है। अतएव हमें सोचना होगा कि क्या वास्तवमें यह कोई विरोध है या विरोधाभास है तथा इसका रहस्य क्या है ?

अपने देशमें मुख्यतया दो प्रकारकी धर्म संस्थाएँ रही हैं, जिनकी जड़ें तथागत बुद्ध और निर्गुणनाथ महावीरसे भी पुरानी हैं। इनमेंसे एक गृहस्थाश्रम केंद्रित है और दूसरी है संन्यास व परित्रज्या-केंद्रित। पहली संस्थाका पोषण और संवर्धन मुख्यतया वैदिक ब्राह्मणोंके द्वारा हुआ है, जिनका धर्म-व्यवसाय गृह्य तथा श्रौत यज्ञयागादि एवं तदनुकूल संस्कारोंको लक्ष्य करके चलता रहा है।

दूसरी संस्था शुरूमें और मुख्यतया ब्राह्मणेतर यानी वैदिकेतर, खासकर कर्मकांडीब्राह्मणेतर वर्गके द्वारा आविर्भूत हुई है। आज तो हम चार आश्रमके नामसे इतने अधिक सुपरिचित हैं कि हर कोई यह समझता है कि भारतीय प्रजा पहलेहीसे चतुराश्रम संस्थाकी उपासक रही है। पर वास्तवमें ऐसा नहीं है।

---

बाल-दीक्षा विरोधी सम्मेलन, जयपुरमें ता० १४-१०-४६ को सभापति-पदसे दिया हुआ भाषण।

गृहस्थाश्रम केंद्रित और संन्यासाश्रम केंद्रित दोनों संस्थाओंके पारस्परिक संघर्ष तथा आचार-विचारके आदान-प्रदानमेंसे यह चतुराश्रम संस्थाका विचार व आचार स्थिर हुआ है। पर, मूलमें ऐसा न था।

जो गृहस्थाश्रम केंद्रित संस्थाको जीवनका प्रधान अङ्ग समझते थे वे संन्यासका विरोध ही नहीं, अनादरतक करते थे। इस विषयमें गोभिल गृह्यसूत्र देखना चाहिये तथा शंकर-दिग्विजय। हम इस संस्थाके समर्थनका इतिहास शतपथ ब्राह्मण, महाभारत तथा पूर्वपक्ष रूपसे न्यायभाष्यतकमें पाते हैं। दूसरी ओरसे संन्यास-केन्द्रित संस्थाके पक्षपाती संन्यासपर इतना अधिक भार देते थे कि मानों समाजका जीवन-सर्वस्व ही वह हो। ब्राह्मण लोग वेद और वेदाश्रित कर्मकांडोंके आश्रयसे जीवन व्यतीत करते रहे, जो गृहस्थोंके द्वारा गृहस्थाश्रममें ही सम्भव है। इसलिये वे गृहस्थाश्रमकी प्रधानता, गुणवत्ता तथा सर्वोपयोगिता-पर भार देते आए। जिनके वास्ते वेदाश्रित कर्मकाण्डोंका जीवनपथ सीधे तौरसे खुला न था और जो विद्या-रुचि तथा धर्म-रुचिवाले भी थे, उन्होंने धर्म-जीवनके अन्य द्वार खोले जिनमेंसे क्रमशः आरण्यक धर्म, तापसधर्म, या टैगोरकी भाषामें 'तपोवन'की संस्कृतिका विकास हुआ है, जो सन्त संस्कृतिका मूल है। ऐसे भी वैदिक ब्राह्मण होते गए जो सन्त संस्कृतिके मुख्य स्तम्भ भी माने जाते हैं। दूसरी तरफसे वेद तथा वेदाश्रित कर्मकांडोंमें सीधा भाग ले सकनेका अधिकार न रखनेवाले अनेक ऐसे ब्राह्मणोत्तर भी हुए हैं जिन्होंने गृहस्थाश्रम-केन्द्रित धर्म-संस्थाको ही प्रधानता दी है। पर इतना निश्चित है कि अन्तमें दोनों संस्थाओंका समन्वय चतुराश्रम रूपमें ही हुआ है। आज कट्टर कर्मकाण्डी मीमांसक ब्राह्मण भी संन्यासकी अवगणना कर नहीं सकता। इसी तरह संन्यासका अत्यन्त पक्षपाती भी गृहस्थाश्रमकी उपयोगिताको इन्कार नहीं कर सकता। लम्बे संघर्षके बाद जो चतुराश्रम संस्थाका विचार भारतीय प्रजामें स्थिर व व्यापक हुआ है और जिसके द्वारा समग्र जीवनकी जो कर्म-धर्म पक्षका या प्रवृत्ति-निवृत्ति पक्षका विवेकयुक्त विचार हुआ है, उसीको अनेक विद्वान् भारतीय अध्यात्म-चिन्तनका सुपरिणाम समझते हैं। भारतीय वाङ्मय ही नहीं पर भारतीय जीवनतकमें जो चतुराश्रम संस्थाओंका विचारपूत अनुसरण होता आया है, उसके कारण भारतकी त्यागभूमि व कर्मभूमि रूपसे प्रतिष्ठा है।

आरण्यक, तपोवन या सन्त संस्कृतिका मूल व लक्ष्य अध्यात्म है। आत्मा-परमात्माके स्वरूपका चिन्तन तथा उसे पानेके विविध मार्गोंका अनुसरण ही सन्त-संस्कृतिका आधार है। इसमें भाषा, जाति, वेष, आदिका कोई बन्धन

नहीं। इससे इस संस्कृतिकी ओर पहले ही से साधारण जनताका झुकाव अधिकाधिक रहा है। अनुगामिनी जनता जितनी विशाल होती गई उतनी ही इस संस्कृतिके अवांतर नाना विध बाड़े बनते गए। कोई तपपर तो कोई ध्यानपर जोर देता है। कोई भक्तिपर तो कोई प्रत्यक्ष सेवाको विशेषता देता है, कोई नग्नत्वपर तो कोई कोपिनपर विशेष भार देता है। कोई मैले-कुचैले वस्त्रपर जोर देता है। कोई श्मशानवास तो कोई गुहावासकी बढ़ाई करता है। जुदे जुदे बाह्य मार्गोंपर भार देनेवाले सन्त-साधुओंका सामान्य धोरण यह रहा है कि सब अपने-अपने पन्थके आचारोंका तथा अपने सात्त्विक विचारोंका प्रचार करनेके लिए अपने एक संघकी आवश्यकता महसूस करते रहे। धर्म-पुरुषोंकी चिन्ताका विषय यह रहा है कि हमारा पन्थ या हमारा धर्म-मार्ग अधिक फैले, विशेष लोकग्राह्य बने और अच्छे-अच्छे आदमी उसमें सम्मिलित हों। दूसरी ओरसे ऐसे अनेक आध्यात्मिक जिज्ञासु भी साधारण जनतामें निकलते आते रहे हैं जो सच्चे गुरुकी तलाशमें धर्म-पुरुषोंके समीप जाते और उनमेंसे किसी एकको गुरु रूपसे स्वीकार करते थे। गुरुओंकी आध्यात्मिकताके योग्य उम्मेदवारोंकी खोज और सच्चे उम्मेदवारोंकी सच्चे गुरुओंकी खोज इन पारस्परिक सापेक्ष भाव-नाओंसे गुरु-शिष्योंके संघकी संस्थाका जन्म हुआ है। ऐसे संघोंकी संस्था बहुत पुरानी है। बुद्ध और महावीरके पहले भी ऐसे अनेक संघ मौजूद थे और परस्पर प्रतिस्पर्धासे तथा धार्मिक भावके उद्रेकसे वे अपना-अपना आचार-विचार फैलाते रहे हैं। इन सन्त संघों या श्रमण-संघोंके सारे आचार-विचारका, जीवनका, उसके पोषण व संवर्धनका तथा उसकी प्रतिष्ठाका एकमात्र आधार योग्य शिष्य का संपादन ही रहा है क्योंकि ऐसे सन्त गृहस्थ न होनेसे सन्ततिवाले तो संभव ही न थे, और उन्हें अपना जीवन-कार्य चलाना तो था ही इसलिये उनको अनिवार्य रूपसे योग्य शिष्योंकी जरूरत होती थी। उस समय भारतकी स्थिति भी ऐसी थी कि धर्म-मार्गकी या आध्यात्मिक-मार्गकी पुष्टिके लिये आवश्यक सभी साधन सुलभ थे और धर्म-संघमें या गुरु-संघमें कितने ही क्यों न सम्मिलित हों पर सबका सम्मानपूर्वक निर्वाह भी सुसम्भव था। धर्म-संघमें ऐसे गम्भीर आध्यात्मिक पुरुष भी हो जाते थे कि जिनकी छायामें अनेक साधारण संस्कारवाले उम्मेदवारोंकी भी मनोवृत्ति किसी न किसी प्रकारसे विकसित हो जाती थी। क्योंकि एक तो उस समयका जीवन बहुत सादा था; दूसरे, अधिकतर निवास ग्राम व नगरोंके आकर्षणसे दूर था और तीसरे एकाध सच्चे तपस्वी आध्यात्मिक पुरुषका जीवनप्रद साहचर्य भी था। इस वातावरणमें बड़े-बड़े त्यागी संघ जमे थे। यही कारण है कि हम महावीर, बुद्ध, गौशालक, सौख्य-

परिव्राजक आदि अनेक संघ चारों ओर देश-भरमें फैले हुए शास्त्रोंमें देखते हैं ।

आध्यात्मिक धर्म-संघोंमें तेजस्वी, देशकालज्ञ और विद्वान् गुरुओंके प्रभावसे आकृष्ट होकर अनेक मुमुक्षु ऐसे भी संघमें आते थे और दीक्षित होते थे कि जो उम्रमें ६, १० वर्षके भी हों, बिलकुल तरुण भी हों, विवाहित भी हों । इसी तरह अनेक मुमुक्षु स्त्रियाँ भी भिक्षुणी-संघमें दाखिल होती थीं, जो कुमारी, तरुणी और विवाहिता भी होती थीं । भिक्षुणी संघ केवल जैन परम्परामें ही नहीं रहा है बल्कि बौद्ध, सांख्य, आजीवक आदि अन्य त्यागी परम्पराओंमें भी रहा है । पुराने समयमें किशोर, तरुण, और प्रौढ़ स्त्री-पुरुष भिक्षु संघमें प्रविष्ट होते थे, यह बात निःशंक है । बुद्ध, महावीर आदिके बाद भी भिक्षु-भिक्षुणियोंका संघ इसी तरह बढ़ता व फैलता रहा है और हजारोंकी संख्यामें साधु-साध्वियोंका अस्तित्व पहलेसे आजतक बना भी रहा है । इसलिए यह तो कोई कह ही नहीं सकता और कहता भी नहीं कि बाल-दीक्षाकी प्रवृत्ति कोई नई वस्तु है, परम्परा सम्मत नहीं है, और पुरानी नहीं है ।

दीक्षाके उद्देश्य अनेक हैं । इनमें मुख्य तो आत्मशुद्धिकी दृष्टिसे विविध प्रकारकी साधना करना ही है । साधनाओंमें तपकी साधना, विद्याकी साधना, ध्यान योगकी साधना इत्यादि अनेक शुभ साधनाओं का समावेश होता है जो सजीव समाजके लिये उपयोगी वस्तु है । इसलिए यह तो कोई कहता ही नहीं कि दीक्षा अनावश्यक है, और उसका वैयक्तिक जीवनमें तथा सामाजिक जीवनमें कोई स्थान ही नहीं । दीक्षा, संन्यास तथा अनगार जीवनका लोकमानसमें जो श्रद्धापूर्ण स्थान है उसका आधार केवल यही है कि जिन उद्देश्योंके लिये दीक्षा ली जानेका शास्त्रमें विधान है और परम्परामें समर्थन है, उन उद्देश्योंकी दीक्षाके द्वारा सिद्धि होना । अगर कोई दीक्षित व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, इस पंथका हो या अन्य पंथका, दीक्षाके उद्देश्योंकी साधना में ही लगा रहता है और वास्तविक रूपमें नए-नए क्षेत्रोंमें विकास भी करता है तो कोई भी उसका बहुमान किए बिना नहीं रहेगा । तब आज जो विरोध है, वह न तो दीक्षाका है और न दीक्षित व्यक्ति मात्रका है । विरोध है, तो केवल अकालमें दी जानेवाली दीक्षा का । जब पुराने समयमें और मध्यकालमें बालदीक्षाका इतना विरोध कभी नहीं हुआ था, तब आज इतना प्रबल विरोध वे ही क्यों कर रहे हैं जो दीक्षाकों आध्यात्मिक शुद्धिका एक अंग मानते हैं और जो दीक्षित व्यक्तिका बहुमान भी करते हैं । यही आजके सम्मेलनका मुख्य विचारणीय प्रश्न है ।

अब हम संक्षेपमें कुछ पुराने इतिहासको तथा वर्तमान कालकी परिस्थिति-

को ध्यानमें रखकर बाल-दीक्षा के हिमायतियोंकी ओरसे कहे जानेवाले बाल-दीक्षा के एक-एक उद्देश्यपर विचार करेंगे कि बाल-दीक्षाने वे उद्देश्य जैन परम्परामें कहाँ तक सिद्ध किए हैं ? इस विचारमें हम तुलनाके लिए अपनी सहचर और अति प्रसिद्ध ब्राह्मण परम्पराको तथा बौद्ध परम्पराको सामने रखेंगे जिससे विचारक जैन साधु और गृहस्थ दोनोंके सामने विचारणीय चित्र उपस्थित हो ।

पहिले हम विद्याकी साधनाको अर्थात् शास्त्राभ्यासको लेते हैं । सब कोई जानते हैं कि यज्ञोपवीतके समयसे अर्थात् लगभग दस वर्षकी उम्रमें ही माता-पिता अपने बटुकको ब्रह्मचारी बनाकर अर्थात् ब्रह्मचारीकी दीक्षा देकर विद्याके निमित्त विद्वान गुरुके पास इच्छापूर्वक भेजते हैं । वह बटुक बहुधा भिक्षा व मधुकरीपर रहकर वर्षोंतक विद्याध्ययन करता है । बारह वर्ष तो एक सामान्य मर्यादा है । ऐसे बटुक हजारों ही नहीं, लाखोंकी संख्यामें सारे देशमें यत्र-तत्र पढ़ते ही आये हैं । आजकी सर्वथा नवीन व परिवर्तित परिस्थितिमें भी ब्राह्मण परम्पराका वह विद्याध्ययन-यज्ञ न तो बन्द पड़ा है, न मन्द हुआ है, बल्कि नई-नई विद्याओंकी शाखाओंका समावेश करके और भी तेजस्वी बना है । यद्यपि इस समय बौद्ध मठ या गुरुकुल भारतमें नहीं बना है पर सीलोन, बर्मा, स्याम, चीन, तिब्बत आदि देशोंमें बौद्ध मठ व बौद्ध विद्यालय इतने अधिक और इतने बड़े हैं कि तिब्बतके किसी एक ही मठमें रहने तथा पढ़नेवाले बौद्ध विद्यार्थियोंकी संख्या जैन परम्पराके सभी फिरकोंके सभी साधु-साध्वियोंकी कुल संख्याके बराबरतक पहुँच जाती है । बौद्ध विद्यार्थी भी बाल-अवस्थामें ही मठोंमें रहने व पढ़ने जाते हैं । सामंसेर या सेख बनकर भिक्षु वेषमें हो खास नियमानुसार रहकर भिक्षाके आधारपर जीवन बिताते व विद्याध्ययन करते हैं । लड़के ही नहीं, इसी तरह लड़कियाँ भी भिक्षुणी मठमें रहती व पढ़ती हैं । अब हम जैन परम्पराकी ओर देखें । यद्यपि जैन परम्परामें कोई ऐसा स्थायी मठ या गुरुकुल नहीं है जिसमें साधु-साध्वियाँ रहकर नियमित विद्याध्ययन कर सकें या करते हैं । पर हरेक फिरकेके साधु-साध्वी अपने पास दीक्षित होनेवाले बालक, तरुण आदि सभी उम्मेदवारोंको तथा दीक्षित हुए छोटे-बड़े साधु-साध्वी मण्डलको पढ़ाते हैं और खुद पढ़ा न सकें तो और किसी न किसी प्रकारका प्रबन्ध करते हैं । इस तरह ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों भारतीय जीवन परम्परामें विद्याध्ययनका मार्ग तो चालू है ही । खासकर बाल अवस्थामें तो इसका ध्यान विशेष रखा ही जाता है । यह सब होते हुए भी विद्याध्ययनके बारेमें जैन परम्परा कहाँ है इसपर कोई विचार करे तो वह शर्मिन्दा हुए बिना न रहेगा । विद्याध्ययनके इतने अधिक

निश्चिन्त सुभीते होनेपर भी तथा अध्ययनकी दृष्टिसे बाल्य-अवस्था अधिक उपयुक्त होनेपर भी जैन परम्पराने ऐसा एक भी विद्वान् साधु पैदा नहीं किया है जो ब्राह्मण परम्पराके विद्वान्के साथ बैठ सके। शुरूसे आजतक बाल-दीक्षा थोड़े बहुत परिमाणमें चालू रहनेपर भी उसका विद्या सम्बन्धी उद्देश्य शून्य-सा रहा है। विद्याके बारेमें जैन परम्पराने स्वावलम्बन पैदा नहीं किया, यही इस निर्बलताका सबूत है। जहाँ उच्च और गम्भीर विद्याके अध्ययनका प्रसंग आया, वहीं जैन साधु ब्राह्मण विद्वानोंका सुखापेक्षी दुश्मा और शत्रु भी है। जिस फिरकेमें जितनी बाल-दीक्षाएँ अधिक, उस फिरकेमें उतना ही विद्याका विस्तार व गांभीर्य अधिक होना चाहिए और परसुखापेक्षिता कम होनी चाहिए। पर स्थिति इसके विपरीत है। इस बातको न तो साधु ही जानते हैं और न गृहस्थ ही। वे अपने उपाश्रय और भक्तोंकी चहारदिवारीके बाहरके जगतको जानते ही नहीं। केवल सिद्धसेन, समन्तभद्र अकलंक, हरिभद्र, हेमचन्द्र या यशोविजय के नाम व साहित्यसे आजकी बाल-दीक्षाका बचाव करना, यह तो राम-भरतके नाम और कामसे सूर्यवंशकी प्रतिष्ठाका बचाव करने जैसा है। जब बाल्यकालसे ही ब्राह्मण बटुकोंकी तरह बाल-जैन साधु-साध्वियों पढ़ते हैं और एकमात्र विद्याध्ययनका उद्देश्य रखते हैं तो क्या कारण है बाल-दीक्षाने विद्याकी कक्षाको जैन परम्परामें न तो उन्नत किया, न विस्तृत किया और न पहलेकी श्रुत परम्पराको ही पूरे ही तौरसे सम्भाले रखा।

दीक्षाका दूसरा उद्देश्य तप व त्याग बतलाया जाता है। मेरी तरह आपमें से अनेकोंने जैन परम्पराके तपस्वी साधु-साध्वियोंको देखा होगा। तीन, दो और एक मास तकके उपवास करनेवाले साधुओं और साध्वियोंको मैं जानता हूँ, उनके सहवासमें रहा हूँ; भक्तिसे रहा हूँ। तप्त टीनकी चढ़रपर धूपमें लेटनेवाले तथा अति संतप्त बालुकापर नंगे बदन लेटनेवाले जैन तपस्वियोंको भी मैंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया है, पर जब इतनी कठोर तपस्याका उनकी आत्मापर आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या हुआ, इसपर मध्यस्थ भावसे सोचने लगा तो मैं एक ही नतीजेपर आया हूँ कि जैन परम्परामें बाह्य तपका अभ्यास ही खूब हुआ है। इस विषयमें भगवान् महावीरके दीर्घतपस्वी विशेषणकी प्रतिष्ठा बना रखी है, पर जैन परम्परा भगवान् महावीरकी तपस्याका मर्म अपना-नेमें निष्फल रही है। जिस एकांगी बाह्य तपको तापस तप की कोटिमें भगवान् ने रखा था, उसी का जैन परम्पराने विकास किया है, तपके आभ्यन्तर स्वरूपमें जो स्वाध्याय तथा ध्यानका महत्त्वपूर्ण स्थान है उसका बाल दीक्षा या प्रौढ़

दीक्षाने कोई विकास नहीं किया है। केवल देह-दमन और बाह्य तप ही अभिमानकी वस्तु हो तो इस दृष्टिसे भी जैन साधु-साधवियों जैनेतर तपस्वी बाबाओंसे पीछे ही हैं। जैनेतर परम्परामें कैसा-कैसा देह-दमन और विविध प्रकारका बाह्य तप प्रचलित है ! इसे जाननेके लिए हिमालय, विन्ध्याचल, चित्रकूट आदि पर्वतोंमें तथा अन्य एकांत स्थानोंमें जाकर देखना चाहिए। वहाँ हम आठ-आठ, दस-दस हजार फीटकी ऊँचाईपर बरफकी वर्षामें नङ्गे या एक कोपीन-धारी खाखी बाबाको देख सकते हैं। जिसने वर्तमान स्वामी रामदासका जीवन पढ़ा है, उनका परिचय किया है, वह जैन साधु-साधवियोंके बाह्य तपको मृदु ही कहेगा। इसलिए केवल तपकी यशोगाथा गाकर जो श्रावक-श्रानिकाओंको धोखेमें रखते हैं वे खुद अपनेको तथा तप-परम्पराको धोखा दे रहे हैं। तप बुरा नहीं, वह आध्यात्मिक तेजका उद्गम स्थान है, पर उसे साधनेकी कला दूसरी है जो आजकलका साधुगण भूल-सा गया है।

दीक्षाका खासकर बाल-दीक्षाका महान् उद्देश्य आध्यात्मिकताकी साधना है। इसमें ध्यान तथा योगका ही मुख्य स्थान है। पर क्या कोई यह बतला सकेगा कि इन जैन दीक्षितोंमेंसे एक भी साधु या साध्वी ध्यान या योग की सच्ची प्रक्रियाको स्वल्प प्रमाणमें भी जानता है ? प्रक्रियाकी बात दूर रही, ध्यान-योग संबन्धी सम्पूर्ण साहित्यको भी क्या किसीने पढ़ा तक है ? श्री अरविन्द, महर्षि रमण आदिके जीवित योगाभ्यासकी बात नहीं करता पर मैं केवल जैन शास्त्रमें वर्णित शुक्ल ध्यानके स्वरूपकी बात करता हूँ। इतनी शताब्दियों का शुक्ल ध्यान संबन्धी वर्णन पढ़िए। उसके जो शब्द ढाई हजार वर्ष पहले थे, वही आज हैं। अगर गुरु ही ध्यान तथा योगका पूरा शास्त्रीय अर्थ नहीं जानता, न तो वह उसकी प्रक्रियाको जानता है, तो फिर उसके पास कितने ही बालक-बालिकाएँ दीक्षित क्यों न हों ; वे ध्यान-योगके शब्दका उच्चार छोड़कर क्या जान सकेंगे ? यही कारण है कि दीक्षित व्यक्तियोंका आध्यात्मिक व मानसिक विकास रुक जाता है। इस तरह हम शास्त्राभ्यास, तात्त्विक त्यागाभ्यास या ध्यान-योगाभ्यासकी दृष्टिसे देखते हैं तो जैन त्यागियोंकी स्थिति दयनीय जँचती है। गुरु-गुरुणियोंकी ऐसी स्थितिमें छोटे-छोटे बालक-बालिकाओंको आजन्म नवकोटि संयम देनेका समर्थन करना, इसे कोई साधारण समझदार भी बाजिब न कहेगा।

बाल-दीक्षाकी असामयिकता और घातकताके और दो खास कारण हैं, जिनपर विचार किए बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। पुराने युगमें जैन गुरु वर्गका मुख अरण्य, वन और उपवनकी ओर था, नगर शहर आदिका अव-

लम्बन या वास नहीं था, जब कि आजके जैन गुरु वर्गका मुख नगर तथा शहरोंकी ओर है, अरण्य, वन और उपवनकी ओर तो साधु-साध्वियोंकी पीठ भर है, मुख नहीं। जिन कसबों, नगरों और शहरोंमें विकारकी पूर्ण सामग्री है उसीमें आजके बालक किशोर, तरुण साधु-साध्वियोंका जीवन व्यतीत होता है। वे जहाँ रहते हैं, जहाँ जाते हैं, वहाँ सर्वत्र ग्यारहवें गुणस्थानतक चढ़े हुए को भी गिरानेवाली सामग्री है। फिर जो साधु-साध्वियाँ छूटे गुणस्थानका भी वास्तविक स्पर्श करनेसे दूर हैं, वे वैसी भोग सामग्रीमें अपना मन अविकृत रख सकें और आध्यात्मिक शुद्धि सँभाले रखें तो गृहस्थ अपने गृहस्थाश्रमकी भोग सामग्रीमें ही ऐसी स्थिति क्यों न प्राप्त कर सकें ! क्या वेष मात्रके बदल देनेमें ही या घर छोड़कर उपाश्रयकी शरण लेने मात्रमें ही कोई ऐसा चमत्कार है जो आध्यात्मिक शुद्धि साध दे और मनको विकृत न होने दे।

बाल-दीक्षाके विरोधका दूसरा सबल कारण यह है कि जैन दीक्षा आजन्म ली जाती है। जो स्त्री-पुरुष साधुत्व धारण करता है, वह फिर इस जीवनमें साधु वेष छोड़कर जीवन बिताए तो उसका जीवन न तो प्रतिष्ठित समझा जाता है और न उसे कोई उपयोगी जीवन-व्यवसाय ही सरलतासे मिलता है। आवक-आविका, साधु-साध्वी सभी ऐसे व्यक्तियोंको अवगणना या उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं। फल यह होता है कि जो नाबालिग लड़का, लड़की उम्र होने पर या तात्पर्य पाकर एक या दूसरे कारणसे साधु जीवनमें स्थिर नहीं रह सकते, उनको या तो साधुवेष धारण कर प्रकृन्त रूपसे मलिन जीवन बिताना पड़ता है या वेष छोड़कर समाजमें तिरस्कृत जीवन बिताना पड़ता है। दोनों हालतोंमें मानवताका नाश है। अधिकतर उदाहरणोंमें यही देखा जाता है कि त्यागी वेषमें ही छिप कर नाना प्रकारकी भोगवासना तृप्त की जाती है जिससे एक तरफसे ऐसे अस्थिर साधुओंका जीवन बर्बाद होता है, और दूसरी तरफसे उनके संपर्कमें आए हुए अन्य स्त्री-पुरुषोंका जीवन बर्बाद हो जाता है। इस देशमें स्त्री-पुरुषोंके अस्वाभाविक शरीर-संबन्धके दूषणका जो फैलाव हुआ है, उसमें अनधिकार बाल-संन्यास और अपक्व संन्यासका बड़ा हाथ है। इस दोषकी जिम्मेवारी केवल मुसलमानोंकी नहीं है, केवल अन्य धर्मावलम्बी मठवासियों, बाबा-महंतोंकी भी नहीं है। इस जिम्मेवारी में जैन परम्पराकी अनधिकार, अकाल, अनवसर दीक्षाका भी खास हाथ है। इन सब कारणों पर विचार करनेसे तथा ऐसी स्थितिके अनुभवसे मेरा सुनिश्चित मत है कि बाल-दीक्षा धर्म और समाजके लिए ही नहीं, मानवताके लिये घातक है।

मैं दीक्षाको आवश्यक समझता हूँ। दीक्षित व्यक्तिका बहुमान करता हूँ

पर इस समय दीक्षा देनेका तथा दीक्षित व्यक्तियोंके जीवनका जो ढर्रा चल रहा है, उसे उस व्यक्तिकी दृष्टिसे, सामाजिक दृष्टिसे बिलकुल अनुपयोगी ही नहीं घातक सगमता हूँ ।

जो दीक्षा-शुद्धिके पक्षपाती हों, उनका भी इस शर्तपर समर्थन करनेको तैयार हूँ कि पहले तो साधु-संस्था बनवासिनी बने; दूसरे, दिनमें एक बार ही भोजन करे और मात्र एक प्रहर नींद ले, बाकीका समय केवल स्वाध्यायमें बिताए; तीसरे, वह या तो दिगम्बरत्व स्वीकार करे या वस्त्र धारण करे तो भी कमसे कम हाथ-कती मोटी खदरके दो या तीन वस्त्र रखें । आजकल मल-मल ही नहीं रेशमी कपड़े पहननेमें जो साधुओंकी और खास कर आचार्योंकी प्रतिष्ठा समझी जाती है, इसका त्याग-प्रधान दीक्षाके साथ क्या मेल है, मुझे कोई समझा सके तो मैं उसका आभार मानूंगा । जब आचार्य तक ऐसे आकर्षक कपड़ोंमें धर्मका महत्त्व और धर्मकी प्रभावना समझते हों, तब कच्ची उम्रमें दीक्षाके लिए आनेवाले बालक-बालिकाओंके मानस पर उसका क्या प्रभाव पड़ता होगा ? इसका कोई विचार करता है ? क्या केवल सब मानस-रोगोंका इलाज एक मात्र उपवास ही है । ऊपरकी तीन शर्तोंसे भी सबल और मुख्य शर्त तो यह है कि दीक्षित हुआ बाल, तरुण, प्रौढ़ या वृद्ध भिक्षु या भिक्षुणी दम्भसे जीवन न बिताए अर्थात् वह जब तक अपने मनसे आध्यात्मिक साधना चाहे करता रहे । उसके लिये आजीवन साधुवेशकी प्रतिष्ठाकी बैध न हो; वह अपनी इच्छासे साधु बना रहे । अगर साधु अवस्थामें संतुष्ट न हो सके तो उस अवस्थाको छोड़ कर जैसा चाहे वैसा आश्रम स्वीकार करे । फिर भी समाज में उसकी अवगणना या अप्रतिष्ठाका भाव न रहना चाहिए । जैसी उसकी योग्यता, वैसा उसको जीवन बितानेमें कोई अड़चन न होनी चाहिए । इतना ही नहीं बल्कि उसको समाजकी ओरसे आश्वासन मिलना चाहिये जिससे उस पर प्रतिक्रिया न हो । खास कर कोई साध्वी गृहस्थाश्रमकी ओर घूमना चाहे तो उसको इस तरह साथ मिलना चाहिये कि जिससे वह आर्त रौद्र ध्यानसे वंच सके । समाजकी शोभा इसीमें है । बात यह है कि बौद्ध परम्परा जैसा शुरूसे ही आजीवन महाव्रतकी प्रतिष्ठा न लेनेका सामान्य नियम बनाएँ । जैसे-जैसे दीक्षामें स्थिरता होती जाए, वैसे-वैसे उसकी काल-मर्यादा बढ़ाएँ । आजीवन प्रतिष्ठा लाजमी न होनेसे सब दोषोंकी जड़ हिल जाती है ।

सेवा-दृष्टिमें साधुओंका स्थान क्या है ? इस मुद्दे पर हमने ऊपर विचार किया ही नहीं है । इस दृष्टिसे जब विचार करते हैं तब तो अनेक बालक-बालिकाओंकी अकालमें, अपक्व मानसिक दशामें आजीवन प्रतिज्ञावद्ध कर

लेना और फिर इधर या उधर कहींके न रखना, यह आत्मघातक दोष है। इसके उपरान्त दूसरा भी बड़ा दोष नजर आता है। वह यह कि ऐसी अकर्मण्य दीक्षित फौजको निभानेके वास्ते समाजकी बहुत बड़ी शक्ति बेकार ही खर्च हो जाती है। वह फौज सेवा करनेके बजाय केवल सेवा लेती ही रहती है। इस स्थितिका सुधार खुद अमुके विचारक साधु-साध्वी एवं गृहस्थ आश्रम न करेंगे तो उनके आध्यात्मिक साम्यवादके स्थानमें लेनिन-स्टालिनका साम्यवाद इतनी त्वरासे आएगा कि फिर उनके किए कुछ न होगा।

मैं पहले कह चुका हूँ कि केवल जैन परम्पराको लेकर बाल-दीक्षाके प्रश्नपर मैं नहीं सोचता। तब इतने विस्तारसे जैन परम्पराकी बाल-दीक्षा संबंधी स्थितिपर मैंने विचार क्यों किया और अन्य भारतीय संन्यास प्रधान परम्पराओंके बारेमें कुछ भी क्यों नहीं कहा? ऐसा प्रश्न जरूर उठता है। इसका खुलासा यह है कि बौद्ध परम्परामें तो बाल-दीक्षाका दोष इसलिए तीव्र नहीं बनता कि उसमें दीक्षाके समय आजीवन प्रतिज्ञाका अनिवार्य नियम नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि अमुक समयतक भिक्षु या भिक्षुणी जीवन बिता कर जो अन्य आश्रमको स्वीकार करता है, उसके लिए अप्रतिष्ठाका भय नहीं है। अब रही वैदिक, शैव, वैष्णव, अवधूत, नानक उदासीन आदि अन्य परम्पराओंकी बात। इन परम्पराओंके अनुयायी सब मिलाकर करोड़ोंकी संख्यामें हैं। उन्हींका भारतमें हिन्दूके नामसे बहुमत है। इससे कोई छोटी उम्रका दीक्षित व्यक्ति उत्पन्नगामी बनता है या दीक्षा छोड़कर अन्य आश्रम स्वीकार करता है तो करोड़ोंकी अनुयायी संख्यापर उसका कोई दुष्परिणाम उतना नजर नहीं आता जितना छोटेसे जैन समाजपर नजर आता है। इसके सिवाय दो एक बातें और भी हैं। जैन परम्परामें जैसी भिक्षुणी संस्था है वैसी कोई बड़ी या व्यापक संन्यासिनी संस्था उक्त परम्पराओंमें नहीं है। इसलिए बालिका, त्यक्ता या विधवाकी दीक्षाके बाद जो अनर्थ जैन परम्परामें सम्भव है, कमसे कम वैसा अनर्थ उक्त परम्पराओंमें पुरुष बाल-दीक्षा होने पर भी होने नहीं पाता। उक्त वैदिक आदि संन्यास प्रधान परम्पराओंमें इतने बड़े समाज-सेवक पैदा होते हैं और इतने बड़े उच्च लेखक, विश्वप्रसिद्ध वक्ता और राजपुरुष भी पैदा होते हैं कि जिससे त्यागी संस्थाके सैकड़ों दोष ढक जाते हैं और सारा हिन्दू समाज जैन समाजकी तरह एक सूत्रमें संगठित न होनेसे उन दोषोंको निभा भी लेता है। जैन परम्परामें साधु-साध्वी संघमें यदि रामकृष्ण, रामतीर्थ, विवेकानन्द, महर्षि रमण, श्री अरविन्द, कृष्ण मूर्ति, स्वामी ज्ञानानन्दजी, आदि जैसे साधु और भक्त माराबाई जैसी एक-आध साध्वी भी होती तो आज बाल-दीक्षाका इतना विरोध नहीं होता !

हर एक फिरके गुरु अपने पास दीक्षित व्यक्तियोंकी संख्याका बड़ा ध्यान रखता है। भक्तोंसे कहता रहता है कि मेरे परिवारमें इतने चेले, इतनी चेलियाँ हैं। जिस गुरु या आचार्यके पास दीक्षा लेनेवालोंकी संख्या जितनी बढ़ी, उसकी उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा समाजमें प्रचलित है। यह भी अनुयायियोंमें संस्कार सा पड़ गया है कि वे अपने गच्छ या फिकमें दीक्षित व्यक्तियोंकी बढ़ी संख्यामें गौरव लेते हैं। पर कोई गुरु, कोई गुरुणी या कोई आचार्य या कोई संघपति गृहस्थ कभी इस बातको जाहिरा प्रसिद्ध नहीं करता, खुले दिलसे बिना हिचकिचाये नहीं बोलता कि उसके शिष्य परिवारोंमेंसे या उसके साधु-मण्डलमें से कितनोंने दीक्षा छोड़ दी, दीक्षा छोड़कर वे कहाँ गए, क्या करते हैं और दीक्षा छोड़नेका सच्चा कारण क्या है? इन बातोंके प्रकट न होनेसे तथा उनकी सच्ची जानकारी न होनेसे श्रावक समाज अंधेरेमें रहता है। दीक्षा छोड़नेके जो कारण हों, वे चालू ही नहीं बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ते ही रहते हैं। दीक्षा छोड़नेवालोंकी स्थिति भी खराब होती जाती है। उतने अंशमें समाज भी निर्बल पड़ता जाता है। समझदारोंकी श्रद्धा बिलकुल उठती जाती नजर आती है और साथ ही साथ अविचारों दीक्षा देनेका सिलसिला भी जारी रहता है। यह स्थिति बिना सुधरे कभी धर्म-तेज सुरक्षित रह नहीं सकता। इसलिए हर एक समझदार संघके अगुवे तथा जवाबदेह धार्मिक स्त्री-पुरुषका यह फर्ज है कि वह दीक्षा त्यागके सच्चे कारणोंकी पूरी जाँच करे और आचार्य या गुरुको ही दीक्षा-त्यागसे उत्पन्न दुष्परिणामोंका जवाबदेह समझे। ऐसा किए बिना कोई गुरु या आचार्य न तो अपनी जवाबदारी समझेगा न स्थितिका सुधार होगा। उदाहरणार्थ, सुननेमें आया कि तेरापन्थमें १८०० व्यक्तियोंकी दीक्षा हुई जिनमेंसे २५० के करीब निकल गए। अब सवाल यह है कि २५० के दीक्षा-त्यागकी जवाबदेही किसकी? अगर १८०० व्यक्तियोंको दीक्षा देनेमें तेरापन्थके आचार्योंका गौरव है, तो २५० के दीक्षा-त्यागका कलंक किसके मत्थे समझना चाहिए? मेरी रायमें दीक्षित व्यक्तियोंके ब्यौरेकी अपेक्षा दीक्षा-त्यागी व्यक्तियोंके पूरे ब्यौरेका मूल्य संघ और समाजके श्रेयकी दृष्टिसे अधिक है क्योंकि तभी संघ और समाजके जीवनमें सुधार सम्भव है। जो बात तेरापन्थके विषयमें है, वही अन्य फिरकेके बारेमें भी सही है।

दिसम्बर १९४६ ]

[ तरुण,